दीवार का इस्तेमाल

बगैर दीवारों के चलने वाले स्कूलों की बात छोड़ दी जाए तो यह कहे जाने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि एक औसत स्कूल दीवार का इस्तेमाल बाहरी दुनिया से रक्षा और इस दुनिया से भिन्न एक विशेष किस्म का वातावरण बनाने के लिए करता है। बाहरी दुनिया से रक्षा में धूप, बारिश और ठण्ड से रक्षा शामिल हैं और इस अर्थ में बच्चों की रक्षा किए जाने में कोई शंका नहीं हो सकती। शंका तब होती है जब हम पाते हैं कि दीवारों के सहारे स्कूल बाहर की दुनिया के सामाजिक यथार्थ से बच्चों को अलग रख रहा है। स्कूली व्यवस्था की दृष्टि में यह भी बच्चों की रक्षा ही है। यह एक पुरानी मान्यता है कि बच्चों का काम व्यक्तित्व यथार्थ की आंच नहीं सह सकता। इस मान्यता की आड़ में यह मान लिया जाता है कि स्कूल को सामाजिक यथार्थ से बच्चों की रक्षा करने का हक है। इसी हक में यह कर्त्तव्य भी शामिल माना जाता है कि स्कूल अपनी दीवारों के भीतर एक विशेष किस्म का वातावरण पैदा करें।

कुछ दिन पहले भारत में यात्रा करते हुए मेरा ध्यान एक स्कूल में दीवारों पर लिखे उपदेशों की ओर गया। इस स्कूल में समय का प्रयोग बहुत अनाप-शनाप ढंग से होता है, पर दीवार पर लिखा: "समय ही अनुशासन है।" संस्था में आपसी कलह और व्यवस्था सम्बन्धी दिक्कतों के कारण हर किसी का पारा लगभग हर वक्त चढ़ा रहता है, पर प्राचार्य के कमरे के बाहर लिखा था: "क्रोध को जीतो।" इसी तरह अन्य कई उपदेश वाक्य थे जो स्कूल के यथार्थ के ठीक विपरीत थे। इन वाक्यों से बच्चों के गिर्द एक विशेष किस्म का नैतिक वातावरण बुनने की कोशिश की गई थी। जैसी नैतिकता यह वातावरण सिखा रहा था, उसका कोई आधार स्कूल के भीतर या बाहर न था। इस कारण दीवारों पर अंकित वाक्यों की व्यंजना अत्यंत कमज़ोर जान पड़ रही थी। उन्हें रोज़ देखते-देखते बच्चों

में शायद यह मानने की आदत पड़ रही थी कि भाषा का इस्तेमाल बगैर किसी अर्थ के हो सकता है। इस दृष्टि से सोचें तो हम यह कह सकते हैं कि स्कूल में भाषा के पाठ्यक्रम में दीवारें बहुत ऋणात्मक भूमिका निभा रही थीं। भाषा के सरकारी पाठ्यक्रम की चेष्टा यह थी कि बच्चे सार्थक भाषा का प्रयोग सीखें। दीवारें यह दिखा रही थीं कि स्कूल स्वयं भाषा का कितना निरर्थक प्रयोग करता है।

पश्चिमी देशों में स्कूल की दीवार का इस्तेमाल बच्चों को उनके कृतित्व के निकट रखने के लिए किया जाता है। कक्षा के दौरान बच्चे जो चित्र बनाते हैं, या जो लेख, कहानी, पत्र या कविता लिखते हैं, उसे तुरन्त दीवार पर टाँग या चिपका दिया जाता है। कक्षा की चारों दीवारे इस तरह की सामग्री से भरी होती हैं। जब कोई बच्चा एक नई चीज़ बनाता है, तब पुरानी कृति हटा दी जाती है। बच्चा जब अपनी कृति दीवार पर देखता है तो एक तरह से स्कूल में अपने अस्तित्व का कुछ अतिरिक्त और मज़बूत आभास पाता है जो उसे रजिस्टर पर अंकित संख्या नहीं दे पाती। चूँकि हर बच्चे की बनाई हुई सामग्री दीवार पर होती है, इसलिए प्रतियोगिता का प्रश्न नहीं उठता। पश्चिम में व्यक्ति को भारी महत्व दिया जाता है और इस स्कूली प्रथा में बच्चे का व्यक्तिगत महत्व ही सर्वोपरि प्रयोजन है जो मेरी राय में एक उम्दा उद्देश्य है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि पश्चिमी स्कूल भारतीय स्कूल के मुकाबले सामाजिक यथार्थ से ज्यादा जुड़ा है। वस्तुस्थिति यह है कि दोनों का समाज से अलगाव भिन्न तरीकों से छिपाया जाता है। भारतीय स्कूल अपनी दीवारां को उपदेशों से रंग का एक झूठी नैतिकता बच्चों को पढ़ाता है। पश्चिमी स्कूल बच्चों की कृतियाँ दीवार पर टाँगकर उनके समाजीकरण की तरफ से आँखें मूँद लेता है। महत्व दरअसल इस बात का है कि दीवारों के भीतर घिरे बच्चों को स्कूल क्या देता है। दीवारों पर क्या हो रहा है, इसका महत्व का एक सीमा तक ही है। ज़्यादा महत्व इसका है कि दीवारों के भीतर क्या हो रहा है?